आत्मीय मूल्य : सदाचार

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,
पूर्व कुलपति, सिंघानिया विश्वविद्यालय,
राजस्थान

सदाचार जीवन का एक दिव्य गुण है। सदाचार का अर्थ इतना ही नहीं कि ब्रह्मचर्य से रहें। ब्रह्मचर्य तो शील जीवन जीने का एक सुसभ्य तरीका है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज, राष्ट्र और विश्व का एक अंग है। जितना उसका दायित्व अपने आपको सुदृढ और सुंदर बनाने का है उतना ही उसका दायित्व समाज और राष्ट्र को भी सुन्दर बनाने का है। समाज में, राष्ट्र में दिव्य गुणों का सृजन कोई अनिर्वचनीय शक्ति नहीं करती है। मानव ही वह शक्ति है जो राष्ट्र और समाज के गुण–अवगुणों का उत्तरदायी है। व्यक्ति गुणवान होकर राष्ट्र में गुणों का सृजन भी कर सकता है और दुर्गुणी होकर वह बुराइयां भी फैला सकता है। निश्चय ही मानव के आचरण का असर राष्ट्र और समाज में बहुत दूर तक रहता है, वह लहर व्यक्त–अव्यक्त कैसे भी किन्तु किनारे तक अवश्य जा टकराती है। यह सत्य मानव के आचरण के विषय में भी सुस्पष्ट है। व्यक्ति का छोटा आचरण भी मानवता को प्रभावित करता है।

समाजिक शान्ति व्यवस्था तथा एक आकर्षण बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को शीलवान बनकर रहना चाहिए। शील स्वभाव से ही व्यक्ति की सुरक्षा सुदृढता और सुन्दरता बन पाती है। शील स्वभाव की पहली शर्त सदाचार है। यों तो सदाचार का बडा व्यापक अर्थ है किन्तु यदि इसे रूढ अर्थ में ही स्वीकार करे तो इसका अर्थ है पत्नी से भिन्न नारी मात्र के प्रति मातृ भाव भगिनी भाव।

सदाचार

सदाचारी का वास्तविक लक्ष्य तो निर्विकार दशा ही है। वह सीमित विकार से अनन्त निर्विकार भावों तक पहुचने का यत्न करता है। सदाचारी जीवन के विषय में स्वस्थ और पवित्र दृष्टिकोण लेकर चलता है। उसके जीवन के ध्येय महान होते हैं। वह अपनी समस्त ऊर्जा को लोक मंगल में प्रयुक्त करता है। एक जौहरी, हीरे को गटर में फेकने के स्थान पर अगूठी में लगा देना ही उचित समझता है। ऐसी ही दृष्टि सदाचारी की होती है। वह अपने जीवन शक्ति को दुराचारों में झोकने के स्थान पर सदा ही स्वस्थ मार्ग में व्यय करता है।

सदाचार से व्यक्ति के जीवन को जो शक्ति और गौरव मिलता है वह करोडों की दौलत से भी नहीं मिल सकता। जितने भी विराट व्यक्तित्व हुए, वे सभी सदाचार से ओतप्रोत थे। समाज राष्ट्र या विश्व को नयी दिशा सदा ही सदाचारियों से मिली है। सदाचारी ही विश्व में परिवर्तन ला सकते हैं। सदाचार जीवन का मेरुदण्ड है। जिसके जीवन का यह मेरूदण्ड झुक गया उसका

जीवन कुछ नहीं। वह केवल गटर का कीड़ा बनकर रह गया। औरंगजेब की जबर्दस्त सैन्य शक्ति का सामना करना बड़ा कठिन कार्य था किन्तु शिवाजी ने इस बात की कोई परवाह नहीं की। वे जीवन भर औरंगजेब के अन्याय से टक्कर लेते रहे। उनका सैन्य बल थोड़ा था किन्तु आत्मबल गजब का था। उनका असीम आत्मबल उन्हें अपने सदाचार से मिला। शिवाजी का सदाचार तो प्रसिद्ध है ही। सूबेदार की पत्नी जिसे शिवाजी के सैनिक गिरफ्तार करके लाये। उसके साथ शिवाजी ने जो पवित्र और आदर्श व्यवहार किया, वह इतिहास में अमर हो गया। उस व्यवहार से शिवाजी के उदात्त चरित्र का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। शिवाजी ने उस वनिता के प्रति मधुर व्यवहार ही नहीं किया अपितु उन्होंने मातृत्व की कल्पना की। उन्होंने कहा–इस देवी की गोद से पैदा होता तो मैं भी बड़ा सुन्दर होता। एक अन्य रूपसी बाला जो उनके अधिकार में हैं, के प्रति इतनी उच्च–विचारधारा का उदय होना, गम्भीर सदाचार तथा सदाशयता का प्रमाण है। शिवाजी के शील गौरव ने उन्हें भारतीय संस्कृति का तेजस्वी पुत्र सिद्ध कर दिया।

सदाचार शील सभ्यता का केन्द्र बिन्दु है। हम इसे खोकर अपनी संस्कृति को नहीं बचा सकते। आज सांस्कृतिक आयोजनों के नाम पर देश में जो अश्लील गीतों पर नाच–गान चलायें, दिखायें जाते हैं, वे सब हमारी सांस्कृतिक सत्यता के विरूद्ध है। हमारी संस्कृति का नाम "शील" संस्कृति है, हम अश्लील होकर उसकी सेवा कर रहे हैं या उनका विनाश कर रहे हैं, यह तो पाठक स्वयं सोच लें। एक तरफ इतिहास बताता है कि पद्मनी अल्लाउद्दीन खिलजी को साक्षात् में एक झलक दिखाना भी अनुचित समझती थी। यों स्त्रियों का प्रत्यक्ष दिखाई देना कोई अपराध नहीं है। किन्तु खिलजी की जो कामुक दृष्टि थी पद्मिनी उसकी संतुष्टि को कतई तैयार नहीं। उसने आग में जल मरना उचित समझा किन्तु वह खिलजी के सामने नहीं गई।

आज हमारे भटके भाई, अपनी बहन–बेटियों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर स्टेजों पर नचा–नचाकर अनेक कामुक दृष्टियों का शिकार बनाते है। यह कितने खेद की बात है। अश्लीलता आज हमारा जीवन अंग बनती जा रही है। रेडियों, सिनेमा, पत्र–पत्रिका, पुस्तकें अश्लीलता से भरे पड़े है। अश्लीलता ने भारतीय जीवन को गन्दगी का ढेर बना दिया है। हम प्रतिदिन हमारी शील संस्कृति को खोते जा रहे हैं। यह बड़ा शोचनीय मसला है। समाज और राष्ट्र के बुद्धिजीवी वर्ग को बढ़ती हुई अश्लीलता के विरूद्ध सक्रिय चिन्तन करना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि भारतीय जीवन में अश्लीलता कभी रही ही नहीं। अश्लीलता अभद्रता जीवन में यत्र–तत्र थी अवश्य किन्तु वह सदा पर्दे के पीछे रही। उसके पीछे अपराध भावना जुड़ी रही, वह समग्र जीवन पद्धति को कभी भी प्रभावित नहीं कर सकी। किन्तु आज कि स्थिति कुछ और है। आज संपूर्ण भारतीय जीवन अभद्रता से प्रभावित होने लगा है। शील ज्योति यद्यपि आज भी टिमटिमा रही है किन्तु उसका सर्वनाश नहीं हो जाए, उसके पहले ही उसे और प्रज्ज्वलित कर देना आवश्यक है।[1]

स्वाश्रयी समीक्षा पद्धति

जीवन का एक प्रमुख सिद्धान्त है स्वाश्रयी समीक्षा पद्धति। चेतना जिसे हम कहते हैं वह केवल शारीरिक स्फूर्ति का आधार ही नहीं है अपितु एक ऐसा गंभीर तत्त्व है जिसमें अनंत शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। आस्तिक तत्त्व चिंतको ने हजारों वर्षों से इस पर गंभीर चिंतन किया है और इसकी अनेक शक्तियों को प्रकट में पाया है। आवश्यक यह है कि चेतना विषयक स्थापित सिद्धांतों को हम केवल आधार रूप स्वीकार करें, चेतना की अन्तर्निहित शक्तियों को उन सिद्धान्तों के आधार पर हम अपने में उद्घाटित करने का प्रयास करें। श्रम के बिना कहीं भी सार्थकता बनी हो, ऐसा आज तक नहीं हुआ। हमारा इतिहास, हमारे साधकों के जीवन वृत हमारे सामने हैं। किसी ने भी बिना श्रम अपने को नहीं पाया। जीवन के व्यावहारिक कानून–कायदे स्थापित या परंपरागत हो सकते हैं किन्तु आध्यात्मिकता भी स्थापित या समारोपित हो सकती है इसका कोई आधार नहीं।

प्रत्येक साधक के लिए आध्यात्मिक ऊँचाइयों का विस्तृत गगन खुला पड़ा है। वह अपनी तैयारी से उड़ान भरे। यह ठीक है कि हमारे कुछ सिद्धान्त है किन्तु वे हमारे लिए सर्वेसर्वा या बन्धन कारक नहीं हैं। वे दिशा बोध देने के लिए उपयोगी हैं। आध्यात्मिक श्रम साधक को स्वयं उठाना है। भगवान महावीर चेतना मात्र के प्रखर विशेषज्ञ रहे हैं। उन्होंने इस तथ्य को बड़ी स्पष्टता से प्रतिपादित किया। अनेक प्रसंग उनके जीवने के ऐसे हैं जो इस तथ्य को स्पष्टता प्रदान करते हैं।

एक मुनि प्रसन्नचन्द्र, जो दीक्षित होने से पूर्व एक व्यवस्थित और संपन्न राज्य के शासक थे। संयम साधना उन्होंने प्रभु के चरणों में स्वीकार की। वे कठिन ध्यान साधना भी किया करते थे। उनके विषय में ही एक दिन मगध सम्राट श्रेणिक ने प्रभु को पूछ बैठा, उनकी जीवन की परिणति के विषय में। प्रभु ने जो समाधान दिया वह आश्चर्यजनक था। प्रभु ने कहा– यह मुनि साधना में संलग्न है किन्तु इसकी आध्यात्मिक दशा में अभी घोर कालुष्य फैला हुआ है। यदि यह मुनि उसे नहीं हटा पाया तो इसे नरक की यात्रा करनी होगीं। अपने ही शिष्य के विषय में ऐसा निरपेक्ष समाधान प्रभु से पाकर श्रेणिक ही नहीं सभी, जिन्होंने सुना चकित रह गए। प्रभु का निर्णय स्पष्ट था। साधना के क्षेत्र में स्वश्रम ही सार्थक होता है। प्रसन्नचन्द्र मुनि स्वतः ही संभल गये थे अपने आंतरिक पतन से। अपनी ध्यान साधना द्वारा ही अनायास परिचित हो गये और उन्होंने अपने आपको विशुद्धि की तरफ बढ़ा दिया और इतना क्रांतिकारी सर्जन अपने में किया कि ध्यान के उसी क्रम में अपने को पूर्णत्त्व तक पहुँचा दिया।

आध्यात्मिकता के क्षेत्र में स्वावलम्बन प्रमुख बात है जिस पर प्रत्येक मुमुक्ष को गहराई से मनन करना चाहिए। परिपाटी में जीने मात्र से कोई आध्यात्मिकता विकसित हो सकेगी, ऐसी आशा करना दुराशा मात्र है।उठो, प्रमत्तावस्था का त्याग करो। महावीर के इस महान् उद्घोष में स्वावलम्बन की कितनी प्रेरणा भरी है। महावीर ने सदा ही भक्तों के पुरूषार्थ को जगाया तो हम

साधना के क्षेत्र में स्वावलम्बन को अधिक महत्व दें। हमारी आत्मिक शक्तियाँ असीम हैं किन्तु हम उसे जाग्रत करने का प्रयत्न नहीं करते।

आत्मिक शक्तियों को जाग्रत करने में ध्यान का बड़ा महत्त्व है। ध्यान का प्रारम्भ विचारों की समीक्षा से होना चाहिये। हम जो सोचते हैं या जो विचार मन मे उठ आया उसे एक इकाई या एक पदार्थ के रूप में अपने से भिन्न रखकर उसकी समीक्षा होनी चाहिए। व्यावहारिक उपयोगिता, आध्यात्मिक दृष्टि, कर्म बंधन, लौकिक मान्यताएँ, स्वास्थ्य संबंधी हानि–लाभ आदि कुछ ऐसे मानक बना लीजिए कि जिन पर विचारों को कसा जा सके। प्रतिदिन इस तरह केवल पाँच प्रयोग कीजिए। प्रारम्भ में यह प्रक्रिया थोड़ी अटपटी लगेगी। हो सकता है कि कुछ दिनों तक समीक्षा के बावजूद आप कोई निर्णय नहीं पा सकें किन्तु कुछ ही दिनों में आप देखेंगे कि आप अपने विचारों की अच्छाई–बुराई ठीक–ठीक पहचानने लगे हैं। ध्यान की यह प्रक्रिया कुछ दिनों तक बहुत धीमी चलेगी किन्तु अभ्यास करते–करते वह सघन होती जाएगी। सुदृढ़ अभ्यासी का अनुभव इतना स्पट और वितर्क होता है कि वह अपने को बुरे विचारों से मुक्त रखने का प्रयास करने लगता है। अध्यात्म के क्षेत्र में कुछ भी कहकर या कुछ भी लिखकर विषय का प्रतिपादन ठीक–ठीक किया ही नहीं जा सकता। अभ्यास से ही ऐसे विषय समझ में आया करते हैं। यह प्रसंग भी कुछ ऐसा ही है। अपने विचारों की समीक्षा से प्रारम्भ किया गया ध्यान अन्य किसी ध्यान पद्धति की तुलना में ज्यादा आसान और प्रभावी है। स्वयं के द्वारा स्थापित मूल्यों पर ही अपने विचारों को कसना होता है। अतः वह सभी के लिए बहुत आसान है।

आत्म–स्वातन्त्र्य

भगवान महावीर के धर्मशासन की सर्वश्रेष्ठ विशेषता 'आत्म–स्वातन्त्र्य' की है। विश्व में अनेक धर्मशासन हैं, उनमें किसी न किसी तरह दैवीय शक्तियों को विश्व कर्तृत्व का अधिकार मिला हुआ है। केवल जिनशासन है, जहाँ कोई पारलौकिक अदृश्य शक्ति को विश्व संचालन का कोई अधिकार नहीं है। यहाँ विश्व को प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन से गति–प्रगति, विकास–ह्रास पाता है। चेतन भी अपने ह्रास–विकास के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। जिनशासन के इस विशिष्ट निर्णय से प्रत्येक चेतना अपने एक नये स्वावलम्बन का पात्र बन जाता है। आत्म स्वातन्त्र्य की एक नयी दृष्टि का विकास होने लगता है। जो करना है, स्वयं को करना है। यह सूत्र प्रत्येक चेतना को एक नयी प्रेरणा प्रदान करता है। साथ ही उसके पुरुषार्थ को सक्रिय कर देता है। आत्म स्वातन्त्र्य मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट संपदा है। व्यक्ति अपने आप में एक विचार जगत लेकर चलता है, उसकी प्रवृत्तियाँ निरन्तर विचारों से प्रभावित होती है। परापेक्षा और परनिर्भरता कुछ ऐसी मानसिक कमजोरियाँ हैं जो प्रायः आम व्यक्ति में पाई जाती हैं। व्यक्ति परनिर्भर होकर एक विलक्षण निश्चितता का अनुभव करता है।

जीवन दर्शन और प्रदर्शन

सादगी का भी अपना एक दर्शन है, इसे हम आत्मशांति का दर्शन कह सकते है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपने आपको "जो वह है उससे भी

अधिक श्रेष्ठ और प्रशंसनीय" दिखाई देने का भाव विद्यमान रहता है। यह भाव इतना श्रेष्ठ और व्यापक होता है कि इसको समाप्त कर देना अत्यंत दुष्कर होता है। इसके अनेक कारण हो सकते है, सबसे बड़ा कारण तो यह है कि प्रारंभिक स्तर पर इसे कोई बुरा भाव नहीं समझा जाता। इतना ही नहीं अधिकतर तो इस भाव को चारों तरफ से प्रशंसा ही मिलती है, इसका परिणाम यह होता है कि भाव व्यक्ति के मन में दिनों–दिन प्रगाढ़ हेाता जाता है और इतना अधिक फैल जाता है कि जिसे प्रारंभ में अच्छाई समझा गया वह भोंडा प्रदर्शन मात्र बनकर रह जाता है। प्रदर्शनेच्छा से अभिभूत मानव अपने खान–पान, पहनावे से लेकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ तक की पारस्परिक व्यवहारों में भी एक नाटक ही करता रहता है, उसकी सारी बुद्धि केवल एक बात की तरफ केन्द्रित हो जाती है कि वह अच्छा कैसे दिखाई दे। व्यक्ति अपने आप में कैसा भी है वह उसकी वास्तविकता है। जब वास्तविकता को छुपाकर केवल दिखावा करने की प्रवृत्ति चल पड़ती है तो यह एक ऐसी प्रवृत्ति है कि उसका अंत ही कठिन हो जाता है। इनमें कोई संदेह नहीं कि मानव ने अपने रहन–सहन और व्यवहारों की नग्नता को ओट देने के लिए एक सभ्यता का निर्माण किया है। सभ्यता के लोक व्यापी प्रतिमान होते हैं और उन प्रतिमानों की सुरक्षा करना प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो जाता है। सभ्यता के प्रतिमानों की सुरक्षा को हम प्रदर्शन नहीं कह सकते। प्रदर्शन रूप प्रतिमान वे होते हैं जिनमें सभ्यता के भाव मुख्य नहीं होकर प्रदर्शन के भाव तीव्र होते हैं। अपने ठाठ–पाट वैभव और देह को अन्य व्यक्तियों के सामने अलंकृत करके प्रस्तुत करना, वह प्रदर्शन है जिसे आम व्यक्ति साश्चर्य देखा करे और उस तरफ आकर्षित हों किन्तु यथार्थ में वह भव्यता जो दिखाई देती है, होती नहीं है। सभ्यता के प्रतिमान की सुरक्षा में भी कुछ अंशों में तो यह होता है किन्तु वह स्थापित लोक स्वीकृत प्रतिमान होता है। अतः वह हेय नहीं है। जीवन को जिन महापुरुषों ने बहुत गहरे तक समझा है, उन्होंने प्रदर्शन दिखावा और आडम्बर को नितान्त अनावश्यक और हेय घोषित किया है। शास्त्रों में आडम्बर का स्पष्ट निषेध है। "सव्वे आभरणा भारा" कह कर हमारे तत्वज्ञों ने अलंकार आदि सभी प्रदर्शन प्रदायक वस्तुओं को भार स्वरूप घोषित कर उन्हें त्याग देने का संदेश दिया है। अत्यंत श्रम और बौद्धिक प्रक्रिया पूर्वक व्यक्ति जो धन कमा रहा है उसे केवल प्रदर्शन और दिखावे में पानी की तरह व्यर्थ बहाए जा रहा है। आर्थिक दृष्टि से संपन्न होकर भी प्रदर्शन के आवेग में फिर विपन्नता की स्थिति में पंहुचा जाता है।

विशुद्ध आत्म भाव–करुणा

करुणा मानवीय संवेदना का एक ऐसा भाव है जिसमें मानव का ह्रदय विगलित होता चला जाता है। करुणा भाव भी मानव को अभिभूत कर देता है। उसकी उत्प्रेरणा भी बहुत प्रबल होती है। करुणा भाव किसी राग भाव का अंग नहीं होकर एक स्वतंत्र आत्म भाव है। राग भाव किसी परिचित या चिरपरिचित के साथ ही हो पाता है किन्तु करुणा भाव के लिए कोई शर्त नहीं है। करुणा

भाव कहीं भी, यहां तक कि नितांत अपरिचित प्राणी को भी पीड़ा–ग्रस्त देखकर उभर सकता है। करुणा भाव से ही संवेदना जगती है, व्यक्ति या प्राणी जो पीड़ित है उसकी छटपटाहट कभी–कभी द्रष्टा के मन में ऐसी पीड़ा पैदा कर देती है। कभी–कभी तो करुणाशील व्यक्ति रोते हुए दुःखी प्राणी के साथ स्वयं रोने लगता है। वह दुःखी के दुःख को अपने आप में अनुभव करता है। यह संवेदना करुणा भाव से ही जग पाती है।

करुणा वस्तुतः एक आत्म भाव है। आर्तग्रस्त प्राणी तो निमित्त मात्र होता है। सरल और सौम्य मानसिकता में करुणा भाव का निश्चित अस्तित्व पाया है। परमार्थ की आराधना में करुणा भाव का सर्वाधिक महत्व है, सच पूछा जाए तो करुणा के बिना परमार्थ हो ही नहीं सकता। जैन शास्त्रों में करुणा का ही पर्यायवाची शब्द अनुकम्पा है। अनुकम्पा को संवेदना का पर्यायवाची कह दें तो अनुपयुक्त नहीं होगा। पीड़ाग्रस्त प्राणी कांपता है, उसके साथ करुणानिधि मानस भी अनुकम्पित होने लगता है। जटायु को तड़पता देख श्री रामचन्द्रजी स्वयं विगलित हो गये। उन्होंने सीता को ढूंढ़ना छोड़ दिया और जटायु की सेवा करने लग गये। उस घायल पक्षी को गोद में उठाकर गले लगाया, प्यार से सहलाया। असीम पीड़ा से वह तड़प रहा था। श्री रामचन्द्रजी भी उसका दुःख देख रोने लगे थे। जटायु के साथ राम का हृदय भी कांप रहा था, यह अनुकम्पा भाव शुद्ध आत्म भाव था। ऐसा भाव किसी भी कोने से राग भाव नहीं हो सकता। राग भाव तो आत्मा का एक विकार भाव है जो त्याज्य है किन्तु करूणा भाव तो किसी की पीड़ा के साथ सहानुभूति में जगने वाला आत्मा का एक दिव्य स्वभाव है, यह कदापि हेय नहीं हो सकता।[2] भगवान महावीर ने अपने प्रतिद्वंद्वी गोशालक को भी तेजोलेश्या की आग से जलते हुए को बचा दिया था। यह विशुद्ध करूणा भाव था। करूणा भाव ही वास्तव में वह भूमिका है, जिस पर सम्यकत्व, व्रतीत्व, तीर्थंकरत्व, ईश्वरत्व आदि सभी परमार्थ न केवल पैदा होते हैं, अपितु फलते–फूलते हैं।

आज हमारा राष्ट्र हिंसा की लपटों में झुलस रहा है। चारों तरफ हत्या और मार–काट फैली हुई है। प्रत्येक मानव असुरक्षित तथा भयग्रस्त है। धर्म प्रधान भारत देश में यह स्थिति अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। धर्म संस्थान, धर्म उपदेश तथा धर्म आयोजनों के बढ़ते हुए भी यह सब कुछ हो रहा है, ऐसा क्यों? यथार्थ परक दृष्टि से देखा जाए तो इस सारी विडम्बना के पीछे एकमात्र करूणाहीनता ही मुख्य कारण है। व्यक्ति आज इतना अधिक निस्करूण हो चला है कि बड़ी से बड़ी दुखद दुर्घटना भी उसके मन को विचलित नहीं कर पाती।

पत्थर की तरह कठोर हो गया है मानव। मानव मन को हमारे मीनीषियों ने कमल की उपमा से उपामित किया है किन्तु आज मन कमल कहां है? आज तो मानव का मन वज्र से भी अधिक कठोर हो चला है। रेडियो, टी.वी., सिनेमा, साहित्य, प्रचार की सभी विधाएं आज मानव की कोमल भावनाओं से खेल रही है। हिंसा, अत्याचार तथा कठोर मानसिकता के दृश्यों को पुनः–पुनः दोहराया जाता है। एक हृदयहीन मानसिकता का पुरजोर प्रचार हो रहा है। ऐसे में मानव

के मन में बहने वाले करूणा के स्रोत का शुष्क हो जाना अवश्यंभावी है। निष्करूण मानव उपद्रवी होगा ही। उपद्रव उसके लिए साहसिकता है, कठोरता एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहार उसका मनोरंजन है। भारत में भी करुणा का स्रोत निरन्तर सूख रहा है, यदि समय रहते राष्ट्र में करुणा, सेवा एवं भावात्मकता का संपोषण नहीं किया गया तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि यहां मानवीय संस्कृति का अस्तित्व ही न बचे।

संदर्भ ग्रन्थ–

1 चिंतनामृत, पृ. 21
2 देहरी के दीप, पृ. 25